

# हरिशंकर परसाई की व्यंग्य सृष्टि और सरोकार



## विवेकानन्द उपाध्याय

सहायक प्राध्यापक,  
हिन्दी विभाग,  
डॉ. हरि सिंह विश्वविद्यालय,  
सागर, मध्य प्रदेश

### सारांश

व्यंग्य और व्यंग्यकार की मूल्यवान भूमिका को स्पष्ट करते हुए कांतिकुमार जैन ने लिखा है, "जो कानून, गीता, गंगाजल अथवा जनता की निगाहों से बच जाते हैं, उन्हें व्यंग्यकार अपने व्यंग्यदंड से आहत करता है।" व्यंग्य को साहित्यिक विधा का दर्जा दिलाने का श्रेय हरिशंकर परसाई को ही दिया जाता है। जैसे व्यंग्य कोई साहित्यिक विधा नहीं बल्कि एक रस है जो किसी भी विधा की रचना मसलन कविता, नाटक कहानी, उपन्यास या निबंध अथवा लेख में पाया जा सकता है। हिंदी में कबीर, तुलसी, भारतेन्दु, प्रेमचंद और निराला तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल की रचनाओं में व्यंग्य के दर्शन होते हैं। हिंदी नवजागरण के दौर में काफी रचनाएँ सामने आईं जिनमें व्यंग्य को एक औजार की तरह इस्तेमाल किया गया था। व्यंग्य से साहित्य में सरसता तो आती ही है साथ ही साहित्य अपने सामाजिक सरोकारों को भी बखूबी निभा लेता है। श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास राग दरबारी अपनी व्यंग्य कला, दृष्टि और भाषा के कारण बेहद लोकप्रिय हुआ। हरिशंकर परसाई आजादी के बाद के भारत के एक महत्वपूर्ण लेखक के रूप में स्थापित हैं। कांति कुमार जैन ने लिखा है "स्वतंत्रता के बाद के हमारे जीवन मूल्यों के विघटन का इतिहास जब भी लिखा जायेगा तो परसाई का साहित्य संदर्भ— सामग्री का काम करेगा।"

**मुख्य शब्द :** हरिशंकर परसाई, व्यंग्य और व्यंग्यकार, साहित्यिक विधा परिचय

आज व्यंग्य को प्रायः एक साहित्यिक विधा माना जाता है। व्यंग्य को साहित्यिक विधा का दर्जा दिलाने का श्रेय हरिशंकर परसाई को ही दिया जाता है। जैसे व्यंग्य कोई साहित्यिक विधा नहीं बल्कि एक रस है जो किसी भी विधा की रचना मसलन कविता, नाटक कहानी, उपन्यास या निबंध अथवा लेख में पाया जा सकता है। अक्सर व्यंग्य को हास्य के साथ जोड़ा जाता है परंतु हास्य कई बार उपहास से भी पैदा होता है और उसके मूल में अहंकार होता है। जबकि व्यंग्य के मूल में करुणा होती है। हिंदी में सरहपा, गोरखनाथ, कबीर, तुलसी, भारतेन्दु और प्रेमचंद की रचनाओं में व्यंग्य के दर्शन होते हैं। परंतु हरिशंकर परसाई ने अपने लेखन से उसे एक स्वतंत्र रूप और स्थान दिला दिया है। खुद परसाई ने अपने एक संग्रह 'तिरछी रेखाएँ' के लेखकीय वक्तव्य में कहा है, "व्यंग्य लेखन एक गंभीर कर्म है। कम से कम मेरे लिए। सवाल यह है कि कोई लेखक अपने युग की विसंगतियों को कितने गहरे से खोजता है। उस विसंगति की व्यापकता क्या है और वह जीवन में कितनी अहमियत रखती है। मात्र व्यक्ति की ऊपरी विसंगति दृ शरीर रचना की, व्यवहार की, बात के लहजे की एक चीज है और व्यक्ति तथा समाज के जीवन की भीतरी तहों में जाकर विसंगति खोजना, उन्हें अर्थ देना तथा उसे सशक्त विरोधाभास के पृथक करके जीवन से साक्षात्कार करना दूसरी बात है।" उपर्युक्त वक्तव्य से ही स्पष्ट है कि हास्य और व्यंग्य में कतना फर्क है और वह किस तरह का है। ऐसे तो साहित्य को ही जीवन की समीक्षा माना जाता है लेकिन हरिशंकर परसाई सच्चे व्यंग्य को जीवन की समीक्षा मानते हैं। वे कहते हैं "सच्चा व्यंग्य जीवन की समीक्षा होता है। वह मनुष्य को सोचने के लिए बाध्य करता है। अपने स साक्षात्कार करता है। चेतना में हलचल पैदा करता है और जीवन में व्याप्त मिथ्याचार, पाखंड, असामंजस्य और अन्याय से लड़ने के लिए उसे तैयार करता है।" व्यंग्य का लक्ष्य मनुष्य का मनोरंजन करना नहीं बल्कि उसे मन—मस्तिष्क को आंदोलित करना होता है। साथ ही वह घट रहे दृश्य में व्यक्त हो रहे यथार्थ का पर्दाफाश कर देता है। इस भूमि पर व्यंग्य लेखक एक शिक्षक की भूमिका अख्तियार कर लेता है। जैसा कि विश्व प्रसिद्ध व्यंग्य लेखक मार्क ट्वेन अपने आपको बुनियादी तौर पर एक शिक्षक ही मानते थे। व्यंग्य लेखन मनुष्य को बेहतर बनाने का लेखन है जो बड़े ही कलात्मक तरीके से दूध का दूध और पानी का पानी कर देता है।

हरिशंकर परसाई का साहित्य केवल व्यंग्य नहीं वह आजादी के बाद के भारत का विशेषकर काँग्रेस शासित भारत की राजनीति का वस्तुपरक मूल्यांकन है। वस्तुतः आजादी का आंदोलन जिस सत्ता परिवर्तन के साथ समाप्त हुआ, उस समय देस को एक जबरदस्त सांस्कृतिक आंदोलन की आवश्यकता थी। लेकिन सबकुछ सत्ताकामी राजनीति के हवाले करके समाज ने अपनी भूमिका सीमित कर ली जिसका नतीजा भारत के सार्वजनिक जीवन में भयानक भ्रष्टाचार और मनमानेपन के रूप में सामने आया और भारत एक गंभीर सांस्कृतिक बीमारी का शिकार हो गया। इस बीमारी में राजनेता, माफिया और अधिकारियों की मिलीभगत के रूप में सामने आया। इस व्यवस्था में तंत्र के सभी अंगों ने मिलकर जनता के अधिकारों पर डाका डाल दिया। आजादी के बाद भारत में लगातार तंत्र का जन पर शिकंजा कसता गया और आम जनता के अधिकारों का विकास, कानून और धर्मनिरपेक्षता तथा समाजवाद के नाम पर हनन किया गया। इसी दौर में सार्वजनिक जीवन के बहुत गहरे कहीं नीचे अँधेरे की दुनिया ने आकार लेना शुरू किया जो दिन में सफेदपोश रूप में होती थी लेकिन उसका असली रूप कुछ और ही होता था। मुक्तिबोध की कविता इसका साक्ष्य बहुत सूक्ष्म तथा प्रतीकात्मक रूप से प्रस्तुत करती है लेकिन हिंदी की मुख्य धारा की हिंदी फिल्मों जो नितांत अतार्किक और अगंभीर मानी जाती हैं उन्होंने इस समस्या का चित्रण अपने तरीके से किया है। पूरी व्यवस्था से अकेले लड़ता नायक इस असहाय आम जनता का प्रतीक है जो फिल्मों के उलट धीरे-धीरे अपनी जंग हारती चली गई।

हरिशंकर परसाई का लेखन आजादी के बाद के भारत की राजनीति, समाज और संस्कृति तथा साहित्य की दुनिया में हो रहे बदलाव, विकास, पतन और बिखराव का मार्मिक दस्तावेज है। परसाई की रचनाओं का ज्ञानात्मक मूल्य यह है कि आज हम उस दौर में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में घटी घटनाओं की सतह से लेकर तल तक की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं और साथ ही व्यक्तियों और संस्थाओं की भूमिका का मूल्यांकन भी कर सकते हैं। 'विकलांग श्रद्धा का दौर' उनका एक लेख है और उसी के नाम से एक संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। इस संग्रह में कुछ चुनी हुई रचनाएँ हैं जो 1975 से 1979 की अवधि में लिखी गई हैं। खुद परसाई ने उपर्युक्त संग्रह की कैफियत में दो महत्वपूर्ण घटनाओं की ओर इशारा किया है। वे लिखते हैं, "पिछले पाँच सालों में दो घटनाएँ महत्वपूर्ण हुईं 1975 से राजनीतिक उथल-पुथल और 1976 में मेरी टॉग टूटना। राजनीतिक विकलांगता और मेरी शारीरिक विकलांगता।" हम जानते हैं कि 1974 में 'संपूर्ण क्रांति' नाम से लोकनायक जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में एक आंदोलन चला। श्रीमती इंदिरागांधी का निर्वाचन उच्च न्यायालय द्वारा रद्द किये जाने के बाद 1975 में आपातकाल देश में लगा दिया गया। तमाम लोगों की गिरफ्तारी हुई और एक तरह से देश में लोकतंत्र को स्थगित कर दिया गया था। 1976 के अंत में चुनाव हुए और जनता पार्टी की पहली गैर कांग्रेसी सरकार सत्ता में

आयी। वस्तुतः यह वह समय था जब भीतर दृ भीतर सड़ रहे सत्ता के अहंकार का मवाद फूट कर बाहर आ गया और उसके जहर से न तो लोकतांत्रिक संस्थाएँ बचीं और न ही व्यक्ति वचे। चरित्रहीनता और मूर्खता का प्रगटीकरण शीर्ष स्तर पर हो गया। ऐसा होना देश के लिए दुर्भाग्यपूर्ण था। लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद जैसे पवित्र शब्द इस दौर में मंजवाक बन गये थे। जनता की आस्था व्यक्तियों और संस्थाओं से हिल गई। चरित्रहीनता, झूठ और बेइमानी देश के सार्वजनिक जीवन में आम हो गए और राजनीति में शुचिता की बात करना निरर्थक हो गया। इसी दौर को परसाई विकलांग श्रद्धा का दौर कहते हैं। वे लिखते हैं, "वास्तव में यह दौर राजनीति में मूर्खों की गिरावट का था। इतना झूठ, फरेब, छल पहले कभी नहीं देखा था। दगाबाजी संस्कृति हो गई थी। दोमुँहापन नीति। बहुत बड़े- बड़े - व्यक्तित्व बौने हो गये। श्रद्धा सब कहीं से टूट गई।.....भ्रष्ट राजनीतिक संस्कृति ने अपना असर सब कहीं डाला। किसी का किसी पर विश्वास नहीं रह गया था- न व्यक्ति पर, न संस्था पर। कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका का नंगापन प्रकट हो गया। श्रद्धा कहीं नहीं रह गई।.....मेरी टॉग टूटना भी एक व्यक्तिगत आपातकाल था, जो मेरी मानसिकता पर छाया रहा।" इस प्रकार हम देखते हैं कि आस्था के केंद्रों की शक्ति और आभा किस तरह खोती है और उसके परिणाम किस तरह सामने आते हैं, 'विकलांग श्रद्धा का दौर' संग्रह इसी का प्रमाण है।

### **'विकलांग श्रद्धा का दौर' की विषय वस्तु और संरचना**

हम जानते हैं कि गीता में ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रद्धावान होने को प्रथम शर्त के तौर पर स्वीकार किया गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी अपने प्रसिद्ध निबंध श्रद्धा और भक्ति में जीवन में श्रद्धा की विशिष्टता और महत्ता पर प्रकाश डाला है। जो हमारे लिए आदर्श और अनुकरणीय होता है उसे हम श्रद्धेय मानते हैं। भारतीय सभ्यता में त्यागी, तपस्वी और अप्रमादी व्यक्ति को ही सम्मान और श्रद्धा का पात्र माना जाता है। जिसका जीवन देश और समाज के लिए निःस्वार्थ भाव से समर्पित हो वही श्रद्धा और आदर का पात्र होता है। परंतु उपर्युक्त गुणों के बिना ही उन्हें ऊपर से ओढ़ लेना या उनका दिखावा करना आजादी के बाद के भारत में बहुत आम हो गया। चरित्र की असली पहचान संकट के ही समय होती है। आपातकाल आधुनिक भारत में पहला सबसे बड़ा संकट था क्योंकि वह संकट विदेशी कारणों से नहीं बल्कि देश के भीतर से ही पैदा हुआ था। चीन और पाकिस्तान के आक्रमण के समय भी देश ने संकट का सामना किया था परंतु वह बाह्य संकट था औ लगभग सारा देश एकजुट था। आपातकाल को आचार्य विनावाभावे ने अनुशासन पर्व की संज्ञा दी थी। परंतु आपातकाल ने निश्चित रूप से भारत का नेतृत्व कर रहे लोगों और संस्थाओं की पोल खोल दी। सत्ता लोकसेवा का माध्यम न रह करके व्यवसाय बन गई और तंत्र लोक पर पूरी तरह हावी हो गया। अगर यह क्षरण सत्ता और राजनीतिक

गलियारों तक ही सीमित रहता तो अलग बात थी। यह संकट जीवन के लगभग हर क्षेत्र में प्रवेश कर गया। साहित्य के लेखक और पाठक, विश्वविद्यालय के शिक्षक तथा विद्यार्थी, समाजसेवक और संत सब इस क्षरण की चपेट में आकर अपनी आभा किस प्रकार खो बैठे, उपर्युक्त लेख इसका प्रमाण प्रस्तुत करता है।

लेख की शुरुआत में लेखक किसी के द्वारा अपना पैर छू लेने की घटना के जिक्र से करता है। आज पैर छूना श्रद्धा निवेदित या प्रदर्शित करने का एक बड़ा सार्वजनिक सा तरीका है विशेषकर सार्वजनिक स्थलों और मंचों या अवसरों पर। लेखक के साथ ऐसा अभी कुछ महीनों से ही शुरू हुआ है अतः उसे पैर छुवाने की आदत अभी नहीं पड़ो है। लेकिन लेखक ने जब पैर छूनेवाले से पैर छूने का कारण पूछा तो उसने कहा, "अपना तो यह नियम है कि गौ, ब्राह्मण और कन्या के चरण छूते हैं।" लेखक के लिए ये कारण बेहद अपमानजनक है क्योंकि वह अपने को लेखक मानता है जबकि पैर छूनेवाले ने उसकी जाति के कारण पैर छुआ था। पैर छूने छुआने की बीमारी समकालीन भारत में कितनी बढ़ गई है, यह बताने की जरूरत नहीं। अर्थात् पैर छूने की परंपरा में बड़ा लेखक होना कोई बात नहीं है। बड़ो चीज है जाति। विश्वविद्यालयों में शोध की हालत के बारे में लेखक एक गूढ़ बात बताते हुए कहता है, "डॉक्टर अध्यायन और ज्ञान से नहीं, आचार्य कृपा से मिलती है।" यह वाक्य भारत में शोध के गिरे हुए स्तर और मौलिक अनुसंधान न होने के प्रमुख कारण को स्पष्ट कर देता है। हिंदी में हा रहे भारी मात्रा में शोध के कारण उपजी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए लेखक एक घटना का विवरण कुछ इस प्रकार प्रस्तुत करता है। "एक बार चौराहे पर यहाँ पथराव हो गया। पाँच घायल अस्पताल में भर्ती हुए और वे पाँचों हिंदी के डॉक्टर थे। नर्स अपने अस्पताल के डॉक्टर को पुकारती: डॉक्टर साहब, तो बोल पड़ते थे ये हिंदी के डाक्टर।"

लेखक खुद से ही यह प्रश्न करता है कि पिछले दिनों उसने न तो कुछ नया लिखा है या किया है तो भी लोग उसका पैर क्यों छू रहे हैं ? तो वह विचार करके यह निष्कर्ष निकालता है कि चूँकि उसकी टाँग टूट गई है इसलिए लोग सहानुभूतिवश उसका पैर छू रहे हैं। और लेखक कहता है कि अगर यह श्रद्धा टूटी टाँगे के कारण पैदा हो रही है तो अवश्य ही यह विकलांग श्रद्धा है। विकलांग श्रद्धा इसलिए क्योंकि यह असमर्थता और दयनीयता के कारण दिखाई जा रही है। बीमारी या कमजोरी को कुछ लोग किस प्रकार अपने स्वार्थ साधन का माध्यम बना लेते हैं लेखक अपने एक बीमार मित्र के दृष्टांत के सहारे स्पष्ट कर देता है। "जैसे ही कोई स्त्री उन्हें देखने आती, वह सिर पकड़कर कराहने लगते। स्त्री पूछती – "क्या सिर में दर्द है? " वे कहते "हाँ सिर फटा पड़ता है।" स्त्री सहज ही उनका सिर दबा देती। उनकी पत्नी ने ताड़ लिया। कहने लगी— "क्योंजी जब कोई स्त्री तुम्हें देखने आती है तभी तुम्हारा सिर क्यों दुखने लगता है?" उसने जवाब भी माकूल दिया। कहा— "तुम्हारे प्रति

मेरी इतनी निष्ठा है कि परस्त्री को देखकर मेरा सिर दुखने लगता है।"

परसाई की व्यंग्य कला में सूक्तियों का बड़ा महत्व है। आमतौर पर हम सूक्तियों को मध्यकालीन कविता में देखते हैं। लेकिन आधुनिक हिंदी साहित्य में प्रेमचंद और परसाई के लेखन में नई सूक्तियों की भरमार है। कुछ एक उदाहरण देखने लायक हैं। मसलन "आत्मविश्वास कई तरह का होता है— धन का, बल का, ज्ञान का। मगर मूर्खता का आत्मविश्वास सर्वोपरि होता है।" (एक दीक्षांत भाषण)। "शरीर जब तक दूसरों पर लदा है, तब तक मुटाता है। जब अपने ही ऊपर चढ़ जाता है, तब दुबलाने लगता है।" जिन्हें मोटा रहना वे दूसरों पर लदे रहने का सुभीता कर लेते हैं— नेता जनता पर लदता है, साधु भक्तों पर, आचार्य महत्वाकांक्षी छात्रों पर और बड़ा साहब जूनियरों पर।" (बेइमानी की परत)। "जमाने में वजन से ज्यादा उसके रिकार्ड का महत्व है। इसीलिए चतुर लोग दूसरे की गोद में बैठकर अपने को तुलवा लेते हैं, और बड़े वजन का टिकिट जेब में रखे रहते हैं।" (बेइमानी की परत)। "एक और तरह की सर्जरी है, जिसमें बिना चाकू के पेट काटा जा सकता है। वर्तमान सभ्यता में इस रक्तहीन सर्जरी ने काफी उन्नति की है। जो दस— पाँच के पेट काट सके उसका पेट बड़ा हो जाता है।" (बेइमानी की परत)

अक्सर व्यंग्य को हास्य के साथ जोड़ा जाता है परंतु हास्य कई बार उपहास से भी पैदा होता है और उसके मूल में अहंकार होता है। जबकि व्यंग्य के मूल में करुणा होती है। उपर्युक्त वक्तव्य से ही स्पष्ट है कि हास्य और व्यंग्य में कतना फर्क है और वह किस तरह का है। ऐसे तो साहित्य को ही जीवन की समीक्षा माना जाता है लेकिन हरिशंकर परसाई सच्चे व्यंग्य को जीवन की समीक्षा मानते हैं।

#### सन्दर्भ

1. कांतिकुमार जैन, भूमिका काग भगोड़े लेखक शंकर परसाई, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 1990 पृ.12
2. वही पृ. 6
3. हरिशंकर परसाई, तिरछी रेखाएँ (भूमिका), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 1996
4. वही
5. हरिशंकर परसाई, विकलांग श्रद्धा का दौर (कैफियत), राजकमल, नई दिल्ली 19880
6. वही
7. वही पृ.29
8. वही पृ.29
9. वही पृ.29
10. वही पृ.31